‘अमृत’ काल में विष

प्रसन्न कुमार चौधरी

'अमृत' काल में विष/ लेखक: प्रसन्न कुमार चौधरी

ई-प्रकाशन: अप्रैल, 2023

https://prasannachoudhary.blogspot.com/ से साभार

प्रसन्न कुमार चौधरी

20 अगस्त 1955 को बिहार के दरभंगा जिले के बाउर गांव में जन्मे। वर्तमान में झारखण्ड के देवघर में निवास। समाजवाद, अर्थशास्त्र साहित्य, समाज और दर्शन पर हिंदी और अंग्रेजी में गंभीर लेखन प्रकाशित कृतियां: सृष्टि-चक्र (काव्य-कृति); अनंत का छंद (एक तत्वशास्त्रीय विमर्श); बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम (सह-लेखन); स्वर्ग पर धावा: बिहार में दलित आन्दोलन (सह-लेखन); 1857: बिहार-झारखण्ड में महायुद्ध (सह-लेखन); अतिक्रमण की अंतर्यात्रा: ज्ञान की समीक्षा का एक प्रयास; पिकेटी: मार्क्स एंड कैपिटल (अंग्रेजी); जेनेसिस ऑफ़ कैपिटल इन इंडिया (अंग्रेजी); कौतुक पर्वत के सैलानी (किंडल ई-बुक); राष्ट्र, राज्य और समाज (किंडल ई-बुक); मन एव मनुष्याणां (किंडल ई-बुक)। इनके अलावा हिंदी और अंग्रेजी में अंकेक लेख विभिन्न पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकशित।

1. हिसाब-किताब की हिंसा

सभी समुदाय इतिहास में अपने ऊपर हुए कथित अन्याय-अत्याचार का हिसाब-किताब चुकता करने लगे तो उसका अन्त मानवजाति की सामूहिक तबाही में होगा। इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में और अलग-अलग क्षेत्रों में हम इस सामूहिक तबाही का साक्षात् कर चुके हैं, और आज भी कर रहे हैं।

हजारों वर्षों के मानवजाति के इतिहास में प्रत्येक मानव-समुदाय के पास अपनी स्मृतियाँ हैं, गौरव के अपने क्षण हैं, अपने दुःख हैं, अपने शत्रु और मित्र हैं, अपने प्रेत हैं – कुल मिलाकर, अपने-अपने किस्से हैं जिनमें थोड़ा-बहुत इतिहास है, और बहुत-सारी अपनी-अपनी कुण्ठाएँ हैं, अपने-अपने पूर्वाग्रह हैं।

मनुष्य द्वारा मनुष्य का, समुदाय द्वारा समुदाय का शोषण-उत्पीड़न-दमन; विरोधी कुलों, जनों, जातियों, वर्गों, राष्ट्रीयताओं का जनसंहार; युद्ध; श्रेष्ठ-निम्न का भाव; आदि किसी एक मानव समाज की विशेषता नहीं रही है – (कुछेक अपवादों को छोड़कर) प्रायः सभी मानव समाजों में हम इन प्रवृत्तियों का साक्षात् कर सकते हैं।

सैकड़ों वर्षों के दौरान कोई समुदाय एक ही अवस्था में नहीं रहता – विजेता समुदाय शिखर से च्युत होकर गुमनामी में जा चुके होते हैं, और कई अनजान अथवा विजित समुदाय अपनी गुमनामी या पराधीन अवस्था से निकल कर अपने विजय अभियान में संलग्न होते हैं। ऐतिहासिक अन्याय के प्रतिकार के वादे-नारे वर्तमान में अपने पक्ष को गोलबन्द करने, अपनी हिंसक कार्यवाहियों को ज़ायज़ ठहराने, और अपना वर्चस्व स्थापित करने का माध्यम होते हैं। इतिहास के नाम पर एक समुदाय दूसरे समुदाय पर बलपूर्वक अपना निर्णय थोप देता है, उसे उसके सम्मान, उसकी सम्पत्ति और सुकून से वंचित कर देता है।

2. पहचान

किसी व्यक्ति, संस्था, समुदाय, समाज और राष्ट्र की पहचान के मुख्यतः दो आधार रहे हैं। पहला, सम्बन्धित व्यक्ति, संस्था, समुदाय, समाज और राष्ट्र अपनी उपलब्धियों, नाकामियों और चुनौतियों के आधार पर अपनी पहचान स्थापित करता है। दूसरा, कोई व्यक्ति, संस्था, समुदाय, समाज और राष्ट्र किसी 'अन्य' व्यक्ति, संस्था, समुदाय, समाज और राष्ट्र के विरोध, उसके प्रति नफ़रत, सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन से उसके बहिष्कार तथा निष्कासन के आधार पर अपनी पहचान कायम करता है। इतिहास में हम पहचान के इन दोनों आधारों का साक्षात् करते हैं। अनेक मामलों में दोनों के मिले-जुले रूपों का भी, अथवा एक बड़े काल-खण्ड में हम किसी समाज को इन दोनों आधारों पर अपनी पहचान से ज़द्दोज़हद करते हुए भी देखते हैं।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान हमारे नेताओं ने भारतीय समाज की पहचान के लिए पहला आधार चुना – स्वतंत्र भारत अपनी चुनौतियों, अपनी उपलब्धियों और नाकामियों से पहचाना जाएगा, न कि किसी 'अन्य' समुदाय, समाज या देश के प्रति नफ़रत से, न कि किसी 'अन्य' समुदाय के बहिष्कार और निष्कासन से। अँग्रेज़ भी 'बहिष्कृत अन्य' नहीं थे। मुस्लिम और ईसाई भी नहीं। दरअसल, यहाँ कोई 'अन्य' था ही नहीं। लम्बे औपनिवेशिक शासन तथा विभाजन की त्रासदी के बावज़ूद, स्वतंत्र भारत की भावी दिशा निर्देशित करने वाला यह 'निर्णायक चुनाव' था। इस चुनाव के पीछे अनेक समुदायों, पंथों और भाषाओं वाले हजारो वर्ष पुराने भारतीय समाज का ऐतिहासिक अनुभव था। 'नियति से किया गया वादा था'।

पचहत्तर साल बाद इस चुनाव को गम्भीर चुनौती दी जा रही है और उस ऐतिहासिक निर्णय को पलटा जा रहा है। मुस्लिम 'अन्य' के विरोध,

उसके प्रति नफ़रत और सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन से उसके बहिष्कार और निष्कासन की मुहिम एक धारा के रूप में पहले से मौज़ूद तो थी ही, अब वह शासक विचारधारा बन चुकी है और अनवरत् आक्रामक अभियान का रूप ले चुकी है।

शताब्दियों से साथ-साथ रहने वाले समुदायों के बीच सद्भाव और विवाद के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। तनाव और विवाद पैदा करने के अनेक मुद्दे बनाये और गढ़े जा सकते हैं। कोशिश यह है कि निरन्तर किसी-न-किसी बहाने मुस्लिम-विरोधी (ईसाई-विरोधी भी) शत्रु-भाव को भड़काते रहा जाए – हिन्दू समाज इस शत्रु-भाव के ज्वर में निरन्तर तपता रहे ताकि वर्चस्ववादी शक्तियों के हित में इसका तापमान इच्छानुसार बढ़ाया या घटाया जा सके।

इन कोशिशों के दुष्परिणाम के रूप में पूरा भारतीय समाज अन्दरूनी तौर पर क्षय-रोग से ग्रसित होता जा रहा है। 'अमृत' काल में भारतीय समाज के शरीर में विष घोला जा रहा है।

भारतीय समाज की पहचान के आधार को बदलने की यह प्रक्रिया भारतीय समाज के विघटन की, अन्दरूनी कलह की जिस प्रक्रिया को जन्म दे रही है, उसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता, समानता, मैत्री और समावेशी समृद्धि के आधार पर भारतीय समाज की पुनर्रचना की प्रक्रिया को ज़बर्दस्त आघात पहुँचा है।

नफ़रत एक संक्रमणशील क्रिया है। वह किसी एक समुदाय तक सीमित नहीं रह सकती। शासक वर्गों की राजनीतिक ज़रूरतों के अनुसार समाज की नयी श्रेणियाँ, नये समुदाय उसके आग़ोश में आते जाएँगे। मुस्लिम-विरोध पर आधारित हिन्दू गोलबन्दी कालक्रम में विभिन्न हिन्दू समुदायों के बीच पारस्परिक नफ़रत पर आधारित गिरोहबन्दियों में अधोपतित होने को बाध्य है।

3. पूंजी का प्रायोजन

स्वतंत्रता के साठ वर्षों के दौरान भारतीय पूंजी अपने विकास की जिस अवस्था में जा पहुँची थी, उससे आगे छलांग लगाने के लिए उसे देश के प्राकृतिक, सार्वजनिक और निजी संसाधनों पर अबाध नियंत्रण चाहिये था, और इस अबाध नियंत्रण के लिए चाहिये था श्रम कानून, भूमि-अधिग्रहण कानून, वनाधिकार कानून, प्रदूषण-पर्यावरण से सम्बन्धित कानून में निर्णायक बदलाव और कॉरपोरेट टैक्स में भारी छूट। कुल मिलाकर, इसका मतलब था मज़दूरों, किसानों, आदिवासियों और अन्य मेहनतकश-वंचित समुदायों के अर्जित अधिकारों को निरस्त करना – इन समुदायों के ख़िलाफ़ अघोषित युद्ध छेड़ना। ऐसा करना संविधान प्रदत्त बुनियादी अधिकारों का हनन किये बिना और मेहनतकश समुदायों के बीच विभाजन तथा कलह पैदा किये बिना संभव नहीं था। पूंजी की इन मांगों को पूरा करने में काँग्रेस की असमर्थता की स्थिति में कॉरपोरेट घरानों के प्रभावशाली हिस्से ने ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध वैचारिक-राजनीतिक धाराओं में हिन्दुत्व की वैचारिक-राजनीतिक धारा पर अपना दाँव लगाया। सत्ता में आते ही इन नये शासकों ने कॉरपोरेट घरानों की मांगों को 'फ़ास्ट ट्रैक' पर डाल दिया।

हिन्दुत्व की राजनीति के इस उभार के पीछे कॉरपोरेट घरानों के प्रभावशाली हिस्से का प्रायोजन है, उसकी अकूत धन-शक्ति है। सामाजिक-आर्थिक जीवन पर इन घरानों के प्रभुत्व के ख़िलाफ़ आम मेहनतकश समुदाय की काट के रूप में अल्पसंख्यक समुदायों के प्रति शत्रुभाव पर आधारित कथित आक्रामक हिन्दू गोलबन्दी है।

स्वतंत्रता की पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर 'नियति से किये गये वादे' की जगह 'कॉरपोरेट घरानों के साथ हिन्दुत्व की शक्तियों का किया गया वादा' है।

इसके साथ ही परिवर्तनकामी जीवन-मूल्यों पर भी प्रहार किया जा रहा है। कहा जा रहा है – मेहनतकश अवाम नहीं, कॉरपोरेट घराने ही अर्थव्यवस्था की चालक शक्तियाँ हैं, वही हमारी प्रेरणा हैं, हमारे 'रोल मोडेल' हैं; उन्हें बिना किसी सार्वजनिक अथवा राजकीय नियंत्रण के, बेरोकटोक अपना कारोबार करने देना चाहिये; देश में काले धन का असली स्रोत वे नहीं, आम मध्य वर्ग है; धन, अधिक से अधिक धन, कमाना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिये; इतिहास में न्याय कभी नहीं रहा, इसलिए न्याय की बात फ़िज़ूल है; सरकार राशन दे रही है, मकान दे रही है, सबकी ज़ेब में स्मार्ट फ़ोन है ही, तो और क्या चाहिये; अन्यायपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रणाली की जगह किसी वैकल्पिक प्रणाली के बारे में बात करना, उसके बारे में सोचना और काम करना निरर्थक है; आदि, आदि। यथास्थितिवादी शक्तियाँ पहले भी इस तरह की बातें करती ही थीं।

हक़ीक़त यह है कि आज सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन में जो कुछ अच्छा है, वह किसी-न-किसी सपने, किसी-न-किसी संघर्ष और वैकल्पिक प्रयास का ही परिणाम है। हमारी स्वतंत्रता भी।

सौहार्द, सम्मान, समता, सहकार, सह-भागिता, स्वतंत्रता कोरे शब्द नहीं है। ये मानवजाति की चेतना में अन्तर्निहित चिर-स्थायी भाव हैं, नफ़रत से कहीं अधिक प्रभावशाली। नफ़रत की आँधियों, अनगिनत युद्धों और बर्बरताओं के बावज़ूद मानवजाति का अपनी सृजनात्मक ऊर्जा के साथ बना रहना इसका जीवंत प्रमाण है। भारतीय समाज भी इसका साक्षी है, और आगे भी रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

4. पुनर्रचना की प्रतिक्रिया

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान ही भारतीय समाज की पुनर्रचना का प्रयास और आन्दोलन भी आरम्भ हो चुका था। स्वतंत्रता के बाद इन प्रयासों और आन्दोलनों ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया और भारतीय समाज की पुनर्रचना की यह प्रक्रिया जारी रही – भले ही उसकी रफ़्तार धीमी और उसकी उपलब्धियाँ आधी-अधूरी ही क्यों न रही हों।

इस पुनर्रचना की प्रक्रिया में परम्परागत रूप से वर्चस्व का सुख भोगनेवाले अभिजात्य समूहों को पीछे हटना पड़ा। इन समूहों ने महिलाओं, वंचित समुदायों, श्रमिकों, किसानों आदि के पक्ष में उठाये गये सकारात्मक कदमों और सुधारों को कभी मन से स्वीकार नहीं किया। वे अपना बदला लेने की ताक में तो थे ही – हिन्दुत्व के बैनर तले अब वे अपने विरोधियों से निपटने की साध पूरी कर सकते थे, और सारे सुधारों को 'युरोप से प्रेरित' और उसकी 'नकल' बता कर उसे हिन्दू-विरोधी, भारत-विरोधी क़रार दे सकते थे। भाँति-भाँति के इन विक्षुब्ध समूहों में सती-प्रथा के उन्मादी समर्थकों से लेकर भूमि-श्रम-पूंजी के बाज़ार को पूरी तरह खोल देने को लेकर बेताब तथा काँग्रेस से उम्मीद खो बैठे कॉरपोरेट घरानों की प्रभावशाली लॉबी तक शामिल थी। इसमें सवर्ण अभिजात्यों के वे समूह थे जो सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं, 'शूद्रों' और आदिवासियों की उत्तरोत्तर बढ़ती भागीदारी तथा दावेदारी से मन-ही-मन आग बबूला हो रहे थे। इसमें सम्मान, पद, पुरस्कार आदि से वंचित रह गये साहित्यकार, बुद्धिजीवी, प्राध्यापक आदि भी शामिल थे, भारत माता की वन्दना में और जगद्गुरु भारत की प्रशस्ति में लिखा जिनका प्रबन्ध काव्य तथा शोध-ग्रंथ पाठ्य-पुस्तकों में स्थान नहीं पा सका था, प्राचीन भारत में मस्तिष्क के सफल प्रत्यारोपण जैसे विषयों पर जिनके अति-

महत्वपूर्ण शोध-कार्यों को न तो कोई प्रोत्साहन मिल पाया था और न ही कोई प्रायोजक। (कोई व्यवस्था परिपूर्ण, निर्दोष नहीं होती। इन विक्षुब्धों की कुछ शिकायतें सही भी हो सकती हैं, अथवा थीं, लेकिन अब वे और प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे और उपलब्ध मौके का पूरा फ़ायदा उठा लेना चाहते थे।)

स्वतंत्रता की पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर अब ये विक्षुब्ध नहीं शासक समूह बन चुके हैं। उनके 'शोध-कार्यों' को अब सत्ता का प्रोत्साहन मिल रहा है; सम्मान, पद, पुरस्कार की सारी कोर-कसर पूरी की जा रही है; सार्वजनिक सम्पत्ति और बचत पर कॉरपोरेट घरानों का अब पुख़्ता नियंत्रण है; श्रमिकों, किसानों तथा आदिवासियों को उनकी औकात बतायी जा रही है।

पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर भारतीय समाज सामाजिक पुनर्रचना से सशक्त हुए समुदायों, और उसी प्रक्रिया के क्रम में विक्षुब्ध हुए किन्तु अब सत्तासीन समूहों के बीच निर्णायक संघर्ष से गुजर रहा है।

सामाजिक पुनर्रचना के लिए चले आन्दोलन कालक्रम में सम्प्रदायों का रूप ले लेते हैं। वर्चस्वशाली शक्तियाँ उनके नायकों तथा प्रतीकों का अपहरण कर लेती हैं और इन नायकों तथा प्रतीकों को उनके परिवर्तनकारी सार से वंचित कर उन्हें पत्थर और कंक्रीट के बेज़ान स्मारकों में तब्दील कर देती हैं।

5. अन्यता

‘अन्यता’ युरोपीय अवधारणा नहीं है। ‘अन्य’ की अवधारणा भारतीय समाज में इस क़दर हावी रही कि उसने ‘भारतीय’ होने के बोध को ही कमोबेश नामुमक़िन बना दिया। शूद्र-अन्त्यज-असुर के रूप में ‘अन्दरूनी अन्य’ तथा म्लेच्छों के रूप में ‘बाह्य अन्य’– भारतीय ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था की अस्मिता इन्हीं ‘बहिष्कृत अन्यों’ के संदर्भ द्वारा परिभाषित होती थी। (इतिहास के अलग-अलग दौर में अलग-अलग समुदाय म्लेच्छ के रूप में चिह्नित किये गये।) आर्य-ब्राह्मणों का आर्यावर्त्त/भारतवर्ष ‘अन्यों’ का – अछूतों, शूद्रों, असुरों का भारत नहीं बन सका।

युरोप भी (प्रति या विरोधी के रूप में) ‘अन्य’ नहीं है। भारत और युरोप दोनों जगह मनुष्य ही रहते हैं – मानवजाति की चारित्रिक विशिष्टताएँ दोनों जगहों के मानव-समाजों में पायी जाती हैं। प्रकृति-प्रदत्त सीमाओं के परे जाने की उद्यमिता, आविष्कार-अन्वेषण-नवाचार की प्रवृत्ति, और (जैसाकि हम पहले बता चुके हैं) मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण-उत्पीड़न-दमन, श्रेष्ठ-निम्न का भाव, युद्ध, जनसंहार आदि - प्राय: सभी मानव समाजों में ये प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। अलग-अलग समयों और क्षेत्रों में अलग-अलग मानव-समाजों में इनका अनुपात अलग-अलग होता है। विभिन्न क्षेत्रों में बसनेवाले समाजों का विकास ताल मिलाकर नहीं होता।

तथापि यह सही है कि पिछले क़रीब पाँच सौ सालों में वाणिज्यिक-औद्योगिक-वित्तीय पूंजीवाद के दौरान युरोप के देशों द्वारा जिस तरह प्रकृति का दोहन किया गया, अमेरिका से लेकर अफ़्रीका और एशिया के समाजों को जिस बर्बरता के साथ रौंदा और लूटा गया, जितना लोमहर्षक अत्याचार तथा जनसंहार किया गया, दास-प्रथा के रूप में तथा औपनिवेशिक प्रणाली के तहत सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में जो

क़हर ढ़ाया गया, उसकी तुलना अतीत के किसी भी दौर के साथ नहीं की जा सकती। (विश्व-युद्धों तथा हिरोशिमा-नागासाकी के परमाणु संहार की बात हम यहाँ नहीं करेंगे।) वैसे, हिन्दुत्ववादी शक्तियों की दिलचस्पी युरोपीय शक्तियों की इन बर्बरताओं तथा जनसंहारों में नहीं, उनकी दिलचस्पी मुसलमानों को सबसे बर्बर साबित करने में है।

प्रत्येक दौर में, और प्राय: हर समाज में ऐसे व्यक्ति, ऐसे विचार और ऐसे आन्दोलन भी होते रहे हैं जो विभिन्न रूपों में मनुष्य द्वारा मनुष्य और समुदाय द्वारा समुदाय के शोषण-उत्पीड़न, श्रेष्ठ-निम्न के भाव, जनसंहारों आदि का प्रतिरोध, तथा मनुष्यों और समुदायों के बीच परस्पर सम्मान, सद्भाव तथा समानता का पक्षपोषण करते रहे हैं। भारत में भी प्राचीन काल से ही ऐसे विचारों और आन्दोलनों की लम्बी परम्परा रही है।

6. समावेशी मैत्री

'अन्य' की अनुपस्थिति का अर्थ है सब की स्वीकृति। यही एक समावेशी समाज की बुनियाद है।

राजमहल के षडयंत्रों और युद्धों से गुजरने के बाद तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में अशोक ने अपने गुफा-लेख में यही उत्कीर्ण कराया: समवाय एव साधु। मैत्री ही स्तुत्य है।

बाबासाहब आम्बेडकर हिन्दुओं के दार्शनिक तथा पंथ-सम्बन्धी विचारों को तीन धाराओं में बाँटते हैं और उन्हें क्रमश: (क) ब्रह्मवाद, (ख) वेदान्त, और (ग) ब्राह्मणवाद नाम देते हैं। उपनिषदों के महावाक्य[1] (यथा, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि) को ब्रह्मवाद का सार बताते हुए वे लिखते हैं कि ब्रह्म के इस सिद्धान्त के निश्चित सामाजिक निहितार्थ हैं जिनका जनतंत्र के आधार के रूप में भारी महत्व है। अगर सभी व्यक्ति ब्रह्म के ही अंश हैं तो सभी समान हैं और सभी को समान स्वतंत्रता का उपभोग करना चाहिये। इस लिहाज़ से, उनके अनुसार, इस बात में रत्ती भी संदेह नहीं हो सकता कि कोई सिद्धान्त जनतंत्र का उतना मज़बूत आधार प्रदान नहीं करता जितना ब्रह्म का सिद्धान्त। वे आगे लिखते हैं, "जनतंत्र के पश्चिमी अध्येताओं ने यह विश्वास फैलाया है कि जनतंत्र का उद्भव या तो ईसाई मत से हुआ है या प्लेटो से, और इनके अलावा जनतंत्र का कोई दूसरा प्रेरणा-स्रोत नहीं रहा है। अगर उन्हें यह पता होता कि भारत ने भी ब्रह्मवाद का सिद्धान्त विकसित किया था जो जनतंत्र को बेहतर आधार प्रदान करता है, तो (इस मामले मे) वे इतने कट्टर नहीं होते।"

बहरहाल, अन्य की अनुपस्थिति तथा एक समावेशी जनतांत्रिक समाज के लिए बेहतर बुनियाद प्रस्तुत करने वाले ब्रह्म के सिद्धान्त की उपस्थिति के बावज़ूद उसे धर्म का आधार नहीं बनाने और एक नये समाज

के निर्माण में विफल होने को वे एक बड़ी पहेली बताते हैं। उनके अनुसार, *“इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर हमारे पास ब्रह्मवाद का सबसे जनवादी उसूल था, और दूसरी ओर जातियों, उपजातियों, अछूतों, आदिम जनजातियों, अपराधी जनजातियों से भरा-पड़ा समाज।”*[2]

जनतंत्र की बुनियाद है भाईचारा। राज्य का कानून स्वतंत्रता और समानता को कायम नहीं रखता। उसे कायम रखता है समाज में भाईचारा। आम्बेडकर फ़्रासीसी क्रान्तिकारियों द्वारा प्रयुक्त फ़्रेटरनिटी (भाईचारा) शब्द की जगह बुद्ध के शब्द ‘मैत्री’ को उपयुक्त मानते हैं। यह समाज में मैत्री है जो स्वतंत्रता और समानता को आधार प्रदान करती है – “मैत्री की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता समानता को, और समानता स्वतंत्रता को नष्ट कर देगी।” (रैदास की वाणी में यह मित्र-भाव मीतु-भाव है: ‘जो हम सहरी सु मीतु हमारा’।)

क़रीब डेढ़ हजार वर्षों तक (ईसा पूर्व 500 से ईस्वी सन् 1000 तक) वैचारिक जगत में बौद्ध-मत की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपस्थिति काफ़ी प्रभावकारी थी। लेकिन ब्राह्मणवादी मीमांसकों के लिए बौद्ध-मत ‘बहिष्कृत अन्य’ था। आज तक ब्राह्मण साहित्य में उस काल की जो चर्चा मिलती है, उसमें या तो उसे अत्यन्त गौण स्थान दिया गया है या फिर उसकी बिल्कुल उपेक्षा की गई है।[3] ब्राह्मण टोलों में बौद्ध ग्रंथों का पठन-पाठन निषिद्ध था।

कहने की ज़रूरत नहीं कि स्वतंत्रता की पचहत्तरवीं वर्षगांठ के समय हमारे समाज के महत्वपूर्ण घटकों के प्रति मैत्री-भाव को सुनियोजित रूप से नष्ट किया जा रहा है।

7. प्रामाणिक आत्म का मायाजाल

भारत की समावेशी पहचान को चुनौती देने के बौद्धिक प्रयास अब काफ़ी तेज हो गये हैं। एक लेखक भारत के 'प्रामाणिक आत्म की पहचान' और 'अतीत के भारत के सनातन मूल्यबोध के पुनराविष्कार' के लिए 'प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्ययोजना'[4] प्रस्तावित करते हैं। भारत के 'प्रामाणिक आत्म' की खोज उन्हें दो हजार वर्ष पहले की दुनिया में ले जाती है: *"पिछले दो हजार वर्षों के दौरान विदेशी आक्रमणों, ऐतिहासिक उथल-पुथल और विशेषकर औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक बोध को धूमिल, कलुषित और अन्यथा नहीं कर दिया? इससे उसके स्वरूप और ऐतिहासिक क्रियान्वयन की सातत्यता ही मानो छिन्न-भिन्न हो गयी है।"* हाइडेगर के 'प्रोजेक्ट ऑफ़ थॉट' से प्रेरित यह बौद्धिक परियोजना भारत के नवनिर्माण की 'राजाराममोहनीय योजना जिसमें भारत की आत्मा को खोजने के बजाय युरोप की आत्मा की प्राण प्रतिष्ठा कर दी गई' के लिए पण्डित जवाहरलाल नेहरू को जिम्मेवार ठहराती है और 'उग्र हिन्दू रिवायवलिज़्म' का निम्नलिखित शब्दों में समर्थन करती है, *"एक दूसरी विचारधारा 'नान्य: पंथा' के रूप में उपनिवेशवाद का समाधान हिन्दू रिवायवलिज़्म में देखती है। आजकल इसे दक्षिणपंथ कहा जाता है। इस विचारधारा को अपने ही देश में बहुत भर्त्सना का सामना करना पड़ा है। यहाँ तक कि सम्प्रति इसे फ़ासीवाद कहा जाता है। यद्यपि इनमें कुछ भी ऐसा नहीं है। चूँकि स्वतंत्रता से निकट पूर्व और पश्चात् जिन विजातीय और विधर्मी विचारधाराओं ने भारत पर शासन किया और अपने लाभ के लिए इस देश की बहुसंख्यक हिन्दू-अस्मिता के साथ न्याय नहीं किया, इस कारण इस विचारधारा में उग्रता का पुट आना स्वाभाविक था। अन्यथा इसका चरित्र राजनीतिक कम और सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी अधिक है।"*

भारत के प्रामाणिक आत्म की खोज में लेखक दो हजार वर्ष पहले के भारत में तो जाते ही हैं, साथ ही सगर्व यह दावा भी करते हैं, *"भारतीयों की अन्य संस्कृतियों के प्रति ज्ञानात्मक उदासीनता के दो कारण – इनमें पहला यह कि भारतीयों ने पहले ही एक ऐसी आत्मनिर्भर और आत्मपूरित व्यवस्था तैयार कर ली थी जो जीवन और जगत् की तमाम ज़रूरतों, जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम थी। अत: उन्हें दूसरी संस्कृतियों से कुछ सीखने की आवश्यकता जान नहीं पड़ी। दूसरा एक और गम्भीर कारण यह कि भारतीयों के लिए अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का संदर्भ कभी 'अन्य' रहा ही नहीं, जैसे कि युरोपियों के लिए यह सदैव रहा है। आत्म को हमेशा यहाँ आत्म-संदर्भी रूप में स्वीकार किया गया है।"*

बहरहाल, प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की बौद्धिक परियोजना के संदर्भ में फ़िलहाल इतना कहना ही पर्याप्त है:

क. सारे प्रमाण दिक्-काल सापेक्ष हैं, शर्तों से बँधे हैं – निरपेक्ष रूप से, अन्तिम तौर पर कुछ भी प्रामाणिक नहीं है। प्रामाणिक को संदिग्ध बनाना विचार और विज्ञान का प्राथमिक कार्यभार है – विचार और विज्ञान का विकास प्रामाणिक को संदिग्ध बनाने की प्रक्रिया में ही होता है, और यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है।

उपनिवेश बनने से पहले, या दो हजार वर्ष पहले भी, कोई 'प्रामाणिक भारत' नहीं था। 'प्रामाणिक संस्कृतात्मा' दार्शनिक लिहाज़ से एक निरर्थक, शाब्दिक बाज़ीग़री है।

ख. 'अन्य' की अवधारणा युरोपीय अवधारणा नहीं है (सम्बन्धित लेख में 'युरोप', 'विधर्मी'/'विजातीय' विचारधारा का प्रयोग 'अन्य' के अर्थ में किया गया है।) पहले हम इस विषय पर चर्चा कर चुके हैं।

ग. सृष्टि और समाज में कहीं भी, कभी भी आत्मपूरित और आत्मनिर्भर व्यवस्था नहीं रही है। दरअसल ऐसी किसी व्यवस्था के अस्तित्व का विचार जड़ता तथा आत्म-विनाश का मार्ग प्रशस्त करता है, अपनी

कूपमंडूक अहमन्यता का भोंडा प्रदर्शन है, और अपनी दासता का आमंत्रण है। क्या शानदार 'आत्मनिर्भर और आत्मपूरित व्यवस्था थी' जिसने शताब्दियों तक उपनिवेशीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया!

विकासमान, सतत् परिवर्तनशील सृष्टि और समाज में सारी व्यवस्थाएँ शर्तों से बँधी, सापेक्ष और अपूर्ण हैं, परस्पर निर्भरशील हैं; जीवन और जगत की जरूरतों, जिज्ञासाओं के सारे समाधान दिक्-काल से बँधे हैं, संक्रमणशील हैं। जिन्हें दूसरों से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, वे दूसरों की दासता की जंजीरों में जकड़े जाते हैं।

दूसरों से कुछ नहीं सीखने और बहिष्कृत अन्यों की उपस्थिति ने कालक्रम में उपनिवेशीकरण की राह आसान कर दी।

8. हिन्दुत्व और हिन्दी

हिन्दी को हिन्दुत्व के साथ नत्थी करने का अपना एक इतिहास रहा है। कोई भाषा अपने स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया में सतत् समावेशी समुदाय की रचना करती चलती है। हिन्दी को हिन्दुत्व के साथ नत्थी करने के प्रयासों ने हिन्दी की इस स्वाभाविक विकास प्रक्रिया को बाधित किया है। इससे हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच का सौहार्द भंग हुआ है और समय-समय पर इसने सामाजिक तनावों को जन्म दिया है।

आज जब हिन्दुत्व की शक्तियाँ सत्ता में आने के बाद अपनी आक्रामक मुहिम में जुटी हुई हैं, हिन्दी को सर्वप्रथम हिन्दुत्व के साथ नत्थी किये जाने के प्रयासों से छुटकारा पाना होगा और उसे हिन्दुत्व के प्रतिरोध की अग्रणी भाषा बननी होगी – आज यह हिन्दी तथा हिन्दी समुदाय के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। इस प्रतिरोध का भी अपना एक इतिहास रहा है।

टिप्पणियाँ

1. पाँच औपनिषद महावाक्य: (क) अहं ब्रह्मस्मि (मैं ब्रह्म हूँ) – बृहदारण्यक उपनिषद् (1.4.10), (ख) तत्त्वमसि (वह तुम हो) – छान्दोग्य उपनिषद् (6.8.7), (ग) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह समस्त जगत ब्रह्म ही है) – छान्दोग्य उपनिषद् (3.14.1), (घ) अयम् आत्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है) – माण्डुक्य उपनिषद् (1.2), और (ङ) प्रज्ञानं ब्रह्म (सम्यक ज्ञान ही ब्रह्म है) – ऐतरेय उपनिषद् (1.2)

2. बी. आर. आम्बेडकर, 'रिड्ल्स इन हिन्दुइज़्म: रिड्ल नं. 22', किंडल संस्करण, वर्ष और प्रकाशक का नाम नहीं। सारे उद्धरण इसी पुस्तक से लिये गये हैं। हिन्दी भावानुवाद लेखक द्वारा।

3. दया कृष्ण, 2001, 'न्यू पर्सपेक्टिव इन इंडियन फ़िलोसॉफ़ी', रावत पब्लिकेशंस, जयपुर और नयी दिल्ली, पृष्ठ 21। और देखें, शैल मायाराम (सं), 2014, 'फ़िलोसॉफ़ी एज़ सम्वाद एण्ड स्वराज: डायलोजिकल मेडिटेशंस ऑन दयाकृष्ण एण्ड रामचन्द्र गांधी', सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली में मुस्तफ़ा ख़्वाज़ा का लेख 'द डायलॉग मस्ट कण्टीन्यू', पृष्ठ 110।

4. अम्बिकादत्त शर्मा, 2018, 'भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण: प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्य योजना', प्रतिमान, वर्ष 6, अंक 12, जुलाई-दिसम्बर, 2018, पृष्ठ 53-68। सारे उद्धरण इसी लेख से हैं।

जून, 2022

('हंस', अगस्त 2022, विशेषांक भाग - 1, में प्रकाशित)